

## 'गगन दमामा बाज्यो' और इंकलाब शुरू!

सागर कुमार 'दरख्त'

**भगत सिंह** - कैसी छवि बनती है यह नाम सुनकर ? टोपी पहने हुए एक आदर्शवादी क्रांतिकारी, जो देश के लिए जान देने को भी तैयार थे और जिनका एकमात्र लक्ष्य देश की आजादी थी और वह इसी लक्ष्य के प्रति समर्पित थे। उनका स्वभाव भी जिम्मेदाराना और गंभीर था।

एक आम भारतीय के मन में बसी यह है असीमित गुणों, बेधड़क स्वभाव, निडर जिगर, बेइंतहा खूबसूरती और बेतरह इंटेलेक्ट के स्वामी सरदार भगत सिंह संधू जी की छवि ! यह छवि अपने आप में ही इतनी रूढ़ है कि ये कभी अपनेपन का भाव नहीं जगा सकती। ये छवि सिर्फ दूर से देखी भर जा सकती है। इस छवि को तोड़ने या बदलने या इसके भीतर जाने का प्रयास हमने कभी नहीं किया। ना ही कभी यह जानने की कोशिश की कि एक महज 23 साल के नौजवान की इस तरह की छवि क्यों बनाई गई है हमारे देश में ? क्यों हमने एक 'सोच' के चारों तरफ एक चहारदीवारी बनाकर उसे इतने सालों तक रोके रखा और इस स्थिति में फिलहाल कोई बदलाव करने की कोशिश करते नहीं दिख रहे ? क्यों नहीं हम समझ पाए कि जिस इंसान ने खुद अपनी सीमाएँ कभी नहीं बनाई, उसके दुनिया छोड़ने के बाद उसे कैसे सीमित कर दिया गया ? बाकी सबकी वजहें तो मुझे नहीं मालूम, पर मेरे अपने कारणों की जानकारी है मुझे। कारण इस बात के कि भगत सिंह जी के भीतर क्यों मैं झाँक नहीं पाता था – जब मैंने भगत सिंह जी को शुरू में समझना शुरू किया था और उनकी बनी बनाई छवि के अंदर देखने का प्रयत्न किया था, तो मुझे एक अजीब तरह का डर लगने लगा था। मुझे, मेरे ही, वे आदर्श निर्दयता से कचोटने लगे थे, जो सिर्फ मेरी जुबान पर थे, जिन्हें किसी बाहरी तत्व के दबाव में मैंने जबर्दस्ती अपने व्यक्तित्व का हिस्सा बनाया था। इसे आप एक लाभकारी 'दिक्कत' कह सकते हैं। यह परेशान जरूर करती है, पर साथ ही साथ हमें बाध्य भी करती है कि हम और गहरे जाएँ। भगत सिंह जी के साथ एक और बड़ी 'दिक्कत' है – जब आप उन्हें गहराई में जाकर समझने लगते हैं, तो एक हद के बाद वे समझ आने बंद हो जाते हैं और आप पर हावी होने लगते हैं। हो सकता है उपदर्शित संकीर्णता के यही कारण हों, दोनों ! वैसे तो भगत सिंह जी को पूरी तरह समझ लेना शायद भगत सिंह जी के ही वश में न था, पर उनके व्यक्तित्व का एक कोना भर पकड़ने के लिए इन दोनों स्थितियों (या, 'दिक्कतों') से मुकाबला करने की जरूरत होती है और इसी कोशिश में मेरी बहुत मदद की इस किताब ने – गगन दमामा बाज्यो।

गगन दमामा बाज्यो, गुरू ग्रंथ साहिब की एक सूक्ति है, जिसका मतलब शायद किसी युद्ध या बदलाव की शुरूआत से है। यह किताब फिलहाल तो 'राजकमल' से प्रकाशित हो रही है, परंतु पहले-पहल सन 2002 में ये 'साहित्य उपक्रम' से प्रकाशित हुई थी और इस संगीतमय नाटक को उससे भी पहले, सन् 1994 में, 8 जून को खेला गया था, नई

दिल्ली में। इस हिसाब से देखें, तो भगत सिंह जी की परंपरागत और रूढ़ छवि को बदलने और पुनर्जीवित करने की शुरूआत करने वाला यह नाटक, उस जमाने में बहुत मायने रखता होगा, क्योंकि इसकी लड़ाई करीबन 64 सालों की सोच से थी। और परिणाम बताते हैं कि अपने काम में यह सफलता से कुछ अधिक ही प्राप्त कर चुका था। क्योंकि इसने उस सवाल को भी खड़ा किया था – क्या यही है वह भारत, जिसकी कल्पना की गई थी? किताब के रूप में भी यह कम चमकृत नहीं करता (शायद, क्योंकि नाटक देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ मुझे!)। अगर सिर्फ किताब की बात करें (नाटक के बारे में जानना है तो किताब खरीदें!), तो इसे लिखा है मशहूर अभिनेता, गीतकार, संगीतकार, कवि, नाटककार, निर्देशक, गायक, स्क्रिप्ट लेखक, फिल्म लेखक, संवाद लेखक जनाब पीयूष मिश्रा साहब ने। संगीतमय नाटक है, यानी गानों से भरा एक नाटक। भगत सिंह जी पर आधारित है। और इस किताब ने भगत सिंह जी की उस बनी बनाई छवि को शनैः शनैः तोड़ा है, बदला है और इसने जो 'भगत सिंह' मेरे सामने खड़ा किया है, वह मानो हाथ बढ़ाकर कह रहे हों – 'कैसे हो सागर?!' और इस किताब ने हमें मौका दिया है कि हम उन्हें महसूस कर सकें। समझ सकें कि भगत सिंह जी हमारे ही बीच के आदमी थे, किसी दूसरी दुनिया से नहीं आए थे। थोड़ी चर्चा करते हैं – यकीन मानिए, भगत सिंह जी को सिर्फ घरों की दीवारों पर, कैलेंडरों पर, चौराहों पर, कपड़ों पर सजाकर हमने जैसा बना दिया है, वे वैसे बिलकुल नहीं थे। हाँ, कुछ बातें उनमें जरूर होंगी, किंतु उस तरह की अवस्था में तो बिलकुल नहीं, जिस अवस्था में हम उन्हें उनमें मौजूद मानते हैं। उन्हें कई दफे प्रेम के खिलाफ इस्तेमाल किया गया, जबकि वे प्रेम में यकीन रखते थे। किताब में संग्रहीत साथी सुखदेव को लिखा उनका एक पत्र इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। एक और प्रमाण किताब में से उनका यह कथन है – 'वो तो हम गुलाम मुल्क के नौजवान हैं...इश्क जैसी पाक साफ चीज के लिए आबोहवा ठीक नहीं है, वरना अगले जन्म में मैं यकीनन अपनी प्रेमिका को आगोश में लेकर उसके कंधे से सिर टिकाना चाहूँगा...!' (पेज-105)। और, भगत सिंह जी और उनके साथियों को हम ज़िंदगी और दुनिया से ऊपर मानते आए हैं, कि वे लोग आम धारणाओं और दुनियादारी जैसी चीजों से दूर ही रहते थे, बल्कि ऐसा नहीं था। सभी दोस्त मिलकर मनोरंजन किया करते थे, हँसी मजाक किया करते थे, किसी की शादी तय हो जाती, तो उसके साथ भी मजाक करते थे और वे सभी फिल्में भी देखते थे; भगत सिंह जी को तो चार्ली चैप्लिन की फिल्में बहुत भाती थीं और वे सभी लोग लंच के पैसे बचाकर फिल्में देखते थे। ये सारी बातें हमें हजम नहीं होंगी। हम इन बातों को उन लोगों से जोड़ ही नहीं सकेंगे। वजह? एक तो भारत की गुलामी का माहौल, दूसरे एक नई विचारधारा को लोगों तक पहुँचाने का एक बड़ा कार्य, और ऊपर से भगत सिंह जी का अल्पकालीन जीवन – हम कैसे यकीन कर लें कि 'समय की बर्बादी' (सच में?) भी उन सबके या सरदार जी के जीवन का हिस्सा थी! एक और वजह हमारा यह मानना है कि क्रांतिकारी हमेशा दुनियावी चीजों-बातों से दूर ही रहता है! हालाँकि यह बात हमें भी पता है कि क्रांति इसी जमीन पर, इसी दुनिया में होनी है। पर हमें कौन रोक सकता है किसी को सीमित करने से! हम भारतीय हैं भई, विविधता और एकता के साथ ही संकीर्णता भी हमारे जनजीवन में रची बसी है! शायद यही वजह है कि हम 'भगत सिंह' के दुबारा पैदा होने की उम्मीद तो करते हैं, पर पड़ोसी के घर में! हमारे घर में नहीं आना चाहिए किसी क्रांति का कोई बीज, हमें तो क्रांति का एक भरा पूरा 'पेड़' चाहिए, वह भी किसी दूसरे आँगन में, जिसके फल हम बिना किसी मेहनत के खा सकें! और साल के किसी एक दिन 'पेड़' की मूर्तियों पर फूलमाला डालने के बाद एक फासले पर खड़े होकर भाषण दें, और दर्शकों से कहें कि क्रांति का बीज अपने घर में बोएँ (और पेड़ हो जाने पर माला डालने के लिए हमें बुलाएँ!)। इसी फासले को पाटने की कोशिश करती है यह किताब। भगत सिंह जी को गले लगाने की बजाय, उनके लिए दूर से तालियाँ बजाना हमारी जैसे आदत हो गई है। इस मानसिकता को भी बदलने की कवायद करती दिखती है यह किताब – कहती है कि जाइए, गले नहीं लगा सकते तो कम से कम सरदार जी के दोनों कंधों पर हाथ रखिए और प्यार से कहिए, 'सरदार जी! गर्व है आप पर!' लोगों को उन पर गर्व तो है, बिलकुल है, किंतु उसमें अपनापन नहीं है। उस गर्व में वह ताकत नहीं है, जो सीना फुला सके। आँखों में

चमक ला सके । वह गर्व खोखला है । वह किसी इंसान के लिए नहीं, 'ज़मीं से ऊपर' किसी के लिए है, जिसे हम दूर से ही देख पाते हैं, और महसूस नहीं कर पाते । यह किताब ये भी बताती है कि भगत सिंह जी भी एक इंसान थे । भले आम नहीं थे, पर थे वे इंसान ही । पैर उनके जमीन पर ही रहते थे और सोच भी उनकी जमीन पर बह रही हवाओं के लिए होती थी, आसमान में उड़ते बादलों के लिए नहीं । आदर्श उनके थे जरूर, पर पहाड़ की चोटी जितने विकट नहीं, बल्कि पहाड़ जैसे अटल, अचल और अजेय थे; मिट्टी जैसे सुलभ थे । जमीन और ज़िंदगी के पक्के आदमी थे । उनके जीवन की दो घटनाएँ उनकी इस 'अविशेष' विशेषता को परिलक्षित करती हैं । पहली, अपने अंतिम भोजन के रूप में जेल के मेहतर के हाथ की रोटी खाने की घटना, जिसके माध्यम से उन्होंने इंसानी गुणों को तरजीह देने को कहा, और लोगों को एक व्यापक संदेश दिया कि किसी को भी बेबुनियादी तरीकों से बाँट देना पूरी मानवता के लिए हानिकारक है । दूसरी, सरकारी मुखबिर बन गए अपने साथी हंसराज की वादाखिलाफ़ी पर भरे कोर्ट में फूट फूट कर रोने की घटना, जो इसलिए नहीं घटी कि उन्हें मौत से डर लगा या साथी के विश्वासघात ने उन्हें झकझोर दिया, बल्कि वे यह सोचकर रो पड़े कि अंग्रेजों ने उनके साथी पर कितने जुल्म ढाए होंगे, उसे कितनी यातनाएँ दी होंगी कि वह अपने उसूलों के विरुद्ध जाकर गद्दारी कर बैठा; उन यातनाओं को सहने से बेहतर उसे विश्वासघात करना लगा । इस घटना ने यह साबित कर दिया कि क्रांतिकारी होने के बावजूद वे मानवीय संवेदनाओं से भरपूर थे और भावनाओं की कद्र करना जानते थे, फिर वे चाहे किसी भी 'इंसान' की क्यों ना हों ! हालाँकि इन घटनाओं के बारे में किताब में कुछ भी नहीं है, पर फिर भी उनकी इस छवि को भी हमारे सामने रखती है किताब । यानी इस तरह से देखें, तो किताब एक साथ तीन काम करती है – पहला, सरदार जी की पुरानी, सर्वविदित और रूढ़ छवि को तोड़ती है, बदलती है; दूसरा, एक नई, महसूस की जा सकने वाली उनकी छवि स्थापित करती है और तीसरा तथा सबसे महत्वपूर्ण, इस नई छवि को पुख्ता करती है । और सिर्फ़ इसी गुण के बिनाह पर यह किताब पढ़ी जा सकती है ! किताब की अपने आप में ही ढेर सारी खासियतें हैं । पहली तो इसकी भाषा शैली ही है । पीयूष सर की कलम शायद जादू करती है ! आप उनकी कविताएँ या गीत पढ़ लीजिए, गंभीर मुद्दों पर सरल भाषा में बड़ी बात कैसे कही जाती है, पता चलता है । कैसे पहले मुस्कुराहट देनी है और फिर भौंहें सिकुड़ाकर सोचने की वजहें, ये कला उनकी कलम बखूबी जानती है । इस नाटक के भी संवाद और गीत इससे जुदा कोई असर नहीं करते, बल्कि कुछ नया जोड़ते भी हैं । संवाद सोचने पर मजबूर करते हैं और संकलित गीत बाँधे रखते हैं । अंतिम पेज से दो उदाहरण पेश हैं –

'शिव वर्मा – मैं आज भी ज़िंदा हूँ...! इस आजाद भारत में जिसका सपना वो देखा करता था...! उसका सपना...! सुकून की साँसें होंगी... चारों तरफ़ उमंगें होंगी... भूख का नामोनिशान ना होगा... अत्याचार ना होगा... चीख पुकार नहीं होगी । वाकई आज कहीं चीख पुकार नहीं है ! हर तरफ़ खामोशी है... सत्राटा है... वीराना है... जो शायद इशारा कर रहा है किसी आने वाले तूफान का..... पहले कोड़ों की चोट का एहसास होता था क्योंकि कोड़े दिखते थे । आज वो एहसास मिट गया है क्योंकि कोड़े मारने वालों को ये सुविधा मिल गई है कि वो दूर से बैठकर कोड़े फटकार सकें...! (पेज-127,128)'

“इलाही जिस तसव्वुर को कभी हाँ खूँ से सींचा था...  
इलाही जिस तसव्वुर के लिए गर्दन को भींचा था...  
इलाही जिस तसव्वुर के लिए हर आग पी ली थी...  
इलाही जिस तसव्वुर के लिए हर मौत जी ली थी...  
इलाही क्या कभी सोचा था अपने उस तसव्वुर से...  
जो उपजेगा कभी ऐसा भी ये हिन्दोस्ताँ होगा...  
वतन की आबरू का पास देखें कौन करता है...  
सुना है आज मक़तल में हमारा इम्तिहाँ होगा – 3

(पेज-128)“

दूसरी खासियत – भगत सिंह जी के द्वारा लिखी गई बार बार पठनीय सामग्रियों का अद्भुत संकलन । उनकी भाषा शैली और विषय को पकड़े रखने की उनकी जबर्दस्त क्षमता ही उन्हें कागज़ों पर अद्वितीय बनाती हैं । उनके विचारों की व्यापकता और विषयों पर उनकी सोच का शानदार वितान उनकी कलम को जो अजेयता प्रदान करते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है । अगली खासियत, पाठक को अपनी दुनिया में खींचने की ताकत ! संवादों और पात्रों का समावेश, कथानक और घटनाओं के साथ मिलकर इतना जोरदार बन पड़ा है कि पढ़ते वक्त पाठक गुलामी के उस वक्त की गलियों में 'इंकलाब जिंदाबाद' के नारे लगाते हुए दौड़ने लगता है । एक काल्पनिक किरदार को प्रसंग हेतु प्रयोग किया गया है, ताकि उस वक्त के भारत और आज के भारत में आए फर्क को हम महसूस कर सकें (जो दरअसल आया ही नहीं ! ) किताब जब खत्म होती है, तो एक सवालिया सिकुड़न चेहरे पर छोड़ जाती है – क्या यही था वो 'आज़ाद' हिन्दुस्तान, जिसको पाने का तसव्वुर सबने किया था ?

किताब में 'लेखक की ओर से' नामक एक लेख है, जिसमें पेज 23 पर पीयूष सर उन दिनों को याद करते हैं, जब यह नाटक अपने जोरों पर खेला जाता था । यह जब खत्म होता था, तो वरिष्ठ जन नम आँखों से कहते थे – '...जब यह नाटक छपेगा, तो हम इसे अपने बच्चों को गिफ्ट करेंगे !' नाटक की अप्रतिम सफलता का यह एक नमूना भर है, पर आज इसकी बहुत जरूरत है । जरूरत है हर भारतीय को यह किताब गिफ्ट करने की । क्यों ? क्योंकि ₹125 और 128 पन्नों की यह किताब बहुत सारी दबी छिपी बातें बताती है, जिन्हें जान लेना जरूरी है । कितने जानते हैं कि लाला लाजपत राय की मृत्यु का 'बदला' लेने के लिए सुपरिटेण्डेन्ट स्कॉट को मारने का प्लान था, पर मारा सांडर्स गया था ? या कि नास्तिक होते हुए भी हर वक्त सरदार जी के जेबों में विवेकानन्द की जीवनी और भगवद् गीता का एक गुटका होता था ? या कि वैचारिक मतभेद होते हुए भी महात्मा गाँधी के प्रति उनके मन में सम्मान था ? या फिर यही कि फिल्म 'द लीजेंड आफ भगत सिंह' के लेखन में इस किताब का एक महत्वपूर्ण योगदान था ? या कि भगत सिंह जी, सुखदेव जी और राजगुरु जी की लाशों को टुकड़ों में काटकर, जेल की पिछली दीवार तोड़कर फिरोजपुर भिजवा कर जलाया गया था और अधजली हालत में ही, सतलुज नदी में जैसे जैसे फेंक दिया गया था, जहाँ से उन टुकड़ों को इकट्ठा कर उनका अंतिम संस्कार किया गया था (बहुत से टुकड़े तो मिले भी नहीं थे ! ) ? ये बातें बहुत ही सीमित लोगों को पता होगी, क्योंकि भगत सिंह जी का व्यक्तित्व इतना विराट था कि अंग्रेज़ तो उनसे डरते ही थे, डरते क्या थे, डरना पड़ गया था; पर हमारे ही देश के कुछ 'महान' लोग भी उनकी बातों से, उनके विचारों से डरने लगे थे और आज भी डरते हैं, कि कहीं ये इंसान लोगों में इंसानियत न जगा दे ! सरकारें हमेशा से उन्हें दबाने की कोशिश करती रही हैं । उनके शब्दों को, कामों को, हर चीज़ को छिपाती रही हैं । उन्हें आतंकवादी कहा गया, गैर ज़िम्मेदार कहा गया, उनकी लिखी किताबों को मिटाया गया । उनके जीते जी उन्हें बेतरह जुल्म तो दिए ही गए, उनकी मृत्यु के बाद भी उन्हें नहीं बख्शा किसी ने । पर न जाने उन छः फुट कुछ इंच के इंसान में ऐसा क्या था, ऐसी कौन सी बूटी उन्होंने खाई थी कि उन्हें मारने की तमाम कोशिशों की गई, पर वे डिगे तक नहीं ! उनकी यह 'उपलब्धि' उनके ही वक्तव्य '...व्यक्तियों को कुचलकर वे विचारों को नहीं कुचल सकते !' को चरितार्थ करती है । चिंताजनक ये नहीं था, और ना ही है कि सरकारें और ऊपरी लोग उन्हें दरकिनार करते रहे हैं, कर रहे हैं; वे दमनकारी थे, हैं और रहेंगे और उनका काम उन्हें बखूबी आता है । इसमें चिंता की कोई बात ना कभी थी और ना आज है, बल्कि पेशानी पर बल देती बात है हम आमजन का उन्हें भूलते जाना, उन्हें एक ख़ाँचे में फिट करते जाना, ताकि वे जहाँ हैं, वहीं रहें, उससे आगे ना बढ़ें । ताकि वे एक स्वतंत्रता सेनानी भर (वह भी मुश्किल से) रह जाएँ, विचार न बन पाएँ, क्रांति न बन पाएँ, इंकलाब न हों सकें । यह है चिंताजनक बात !

उन्हें वापस हमारे बीच लेकर आना बहुत जरूरी है, फिर वह चाहे जैसे भी हो – एक विचार के रूप में हो, या हाड़ मांस के रूप में हो। किताबों में हो या दिलों में हो। उनके फिर से पैदा होने की खूब उम्मीदें करनी हैं और किसी अड़ोसी पड़ोसी के यहाँ नहीं, अपनी ही गोद में, अपने ही आँगन में – अपने ही दिल में। क्योंकि भारत आज भी 'आज़ाद' नहीं है और इस आजादी को पाने के लिए एक नहीं, हजारों-लाखों 'भगत सिंह' की जरूरत है हमें, जो धमाके करना जानते हों, सोचना विचारना जानते हों, कुर्सियाँ हिलाना जानते हों और जो डरना-झुकना न जानते हों। इस तरह की एक फौज चाहिए। और समीक्ष्य किताब जैसी रचनाओं का आह्वान इसी ओर है, इसलिए भी यह किताब पढ़ी जाए।

किताब के ब्लर्व पर लिखा है – 'यह नाटक हमारे उस नायक को एक जीवित-स्पंदित रूप में हमारे सामने वापस लाता है जिसे हमने इतना रूढ़ कर दिया कि उनके विचारों के धुर दुश्मन तक आज उनकी छवि का राजनीतिक इस्तेमाल करने में कोई असुविधा महसूस नहीं करते!' आप किताब पढ़ने जाएँ, तो यह वाक्य बाध करता है इसकी सत्यता की जाँच करने को और जब किताब खत्म होती है और यह वाक्य पूरा सत्य जान पड़ता है तो उन 'दुश्मनों' से अनायास ही दुश्मनी हो जाती है! उनकी राजनीतिक रोटियों की आँच बनते हैं हमारे सरदार जी, यह बात किसी को परेशान नहीं करती, किंतु फालतू के कुछ निराधार विषय पूरे देश को जलाएँगे। दुर्भाग्यपूर्ण समय चल रहा है! और हम इस दुर्भाग्यपूर्ण समय के उन निराधार विषयों के फेर में ना पड़ सकें, उसके लिए कुछ अर्थपूर्ण जानें, पढ़ें और चाहें तो इस किताब से शुरूआत कर सकते हैं। चलिए, किताब को खरीदा जाए और पढ़ा जाए। फिर सोचा जाए। सोचा जाए कि उस चौराहे की 'असमतल' ऊँचाई पर खड़े सरदार जी क्यूँ कभी वहाँ से उतर कर 'बाज़ार' नहीं घूम पाए, या उस 'दीवारी फ्रेम' में बँध कर क्यूँ वे घुटन महसूस नहीं कर रहे? कारण शायद हमारा उन्हें महसूस न कर पाना है। उन्हें दिल से महसूस किया जा सके, इसके लिए किताब जरूर पढ़ी जाए। और पढ़ने के बाद नाटक भी देख लिया जाए। ताकि इंकलाब की यह शुरूआत अपने अंजाम तक पहुँच सके!

**इंकलाब जिंदाबाद!**

संपर्क :

सोनबरसा, सलेमपुर, देवरिया, उ.प्र.-2745509

[sagarkumar150100@gmail.com](mailto:sagarkumar150100@gmail.com)